



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर—272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707

ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

पत्रांक:मेमो/अ0बौ0के0/05/2020

दिनांक 19.04.2020

कोरोना संकट के पिछले विमर्श में हमने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि “स्वयं का बोध” ही वह प्रस्थान बिन्दु है जिससे न केवल जीवन एवं जगत के प्रति हमारे व्यवहार का विश्लेषण किया जा सकता है। बल्कि इसी के माध्यम से हम अपने मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रख सकते हैं और लॉकडाउन जन्य अकेले पन से अपना बचाव कर सकते हैं। भले ही हम घरों में अकेले हैं लेकिन “स्वयं का बोध” हमें “अकेलेपन के दंश से सुरक्षित रखने में सहयोग कर सकता है क्योंकि यह वस्तुतः मानव स्वरूप का बोध है। हमने यह भी स्पष्ट किया कि ‘स्व’ एवं ‘पर’ में एक द्वन्द्वात्मक संबंध होता है और “परस्पर तन्त्रता” मानवीय व्यवहार को विश्लेषित करने वाला पद है।

इसी बिन्दु को स्पष्टता प्रदान करते हुए हम भारतीय दृष्टि के अन्तर्गत सर्वप्रथम वेद एवं उपनिषदों में व्यक्त मानव स्वरूप की विवेचना निम्नलिखित रूप से करने का प्रयास करेंगे :-

वेद के अनुसार मानव स्वरूप :

‘वेद’ न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। ‘वेद’ का अर्थ ‘ज्ञान’ है जिसे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा ‘अभय ज्योति के रूप में साक्षात्कार किया था और उसे मंत्र—रूप में शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया था। वेद श्रुति है और अपने अलिखित रूप में ही वे लम्बे समय तक गुरु—शिष्य परम्परा द्वारा सुरक्षित रहे हैं। शब्द इसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में असमर्थ है फिर भी शब्द ही मनुष्य को उपलब्ध एकमात्र साधन है जिससे वह अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को व्यक्त कर सकता है।

स्थूल दृष्टि से ‘वेद’ चार हैं, यथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद। परन्तु तत्त्वतः वेद एक ही है, वेद ज्ञान स्वरूप है। यह परा—वाक् या पश्यन्ती वाक्—स्वरूप है। ऋषियों ने ‘आत्मा’—स्वयं के स्वरूप को जानने हेतु तपस्या की जिसके फलस्वरूप उन्हें एक ‘तेजोमय स्वरूप’ का दर्शन हुआ, उसी ‘तेजोमय स्वरूप’ की ऋषियों ने स्तुति की। उसी स्तुति की अव्यक्त अवस्था ‘परावाक्’ तथा व्यक्त अवस्था ‘पश्यन्तीवाक्’, इससे स्थूल अवस्था ‘मध्यमा

वाक्' तथा स्थूलतम अवस्था जिसे हम सब बोलते हैं 'बैखरी वाक्' के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद के मंत्र (1.164.45) के अनुसार उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है :

“चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्ग्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्यावदन्ति।।”

‘बैखरी’ अवस्था में भी मंत्रों में वही शक्ति होती है जो ‘परा’ रूप में है। ‘बैखरी’ में वे स्थूल रूप में एवं ‘सुप्त’ है जिन्हें अभ्यास द्वारा जागृत किया जा सकता है। प्रत्येक ऋषियों ने अपने-अपने ढंग से उस ‘तेजोमय स्वरूप’ की स्तुति की। जिस रूप में वह उन्हें प्रतीत हुआ वह स्वरूप उस स्तुति का ‘देवता’ कहा गया। प्रारम्भिक अवस्था में देवताओं की उपासनाओं एवं स्तुतियों के द्वारा दुःख निवृत्ति देखकर बहुत से लोग ‘इन्द्र’, ‘वरुण’, ‘पूषण’ आदि देवताओं को ही आत्मा समझने लगे।

हो सकता है कि देवताओं की स्तुति एवं यज्ञ आदि से कुछ सीमा तक लोगों के दुःख की निवृत्ति हुई हो, लेकिन संहिताओं में ऐसे बहुत से मंत्र मिलते हैं जो यह बताते हैं, इस प्रकार के दुःख की निवृत्ति से लोग संतुष्ट न थे बल्कि वे उस ‘अभय ज्योति’ को जानना चाहते थे जिससे दुःखों का पूर्णरूपेण अतिक्रमण हो सके:

“न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।

पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्।।

(“न मुझे दाहिने का और न बायें का ज्ञान है, न मैं पूर्व दिशा को और न पश्चिम दिशा को जानता हूँ। मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है और मैं हताश और व्याकुल हूँ। यदि आप मुझे पथ का प्रदर्शन करें तो मुझे उस प्रसिद्ध ‘अभय ज्योति’ का ज्ञान हो जायेगा। ऋग्वेद 2.27.11)

इसी तरह एक अन्य मंत्र में ‘अभय ज्योति’ का वरदान माँगा जा रहा है, जिससे हमारा अज्ञान एवं क्लेश दूर हो जाय :

“अदिते मित्र वरुणोत मूल यद् वो वयं चकृमा कच्चिदागः।

उर्पश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मानो दीर्घा अभि नशन्तमिस्त्राः।।” (ऋग्वेद 2.27.14)

संहिताओं में अनेक देवताओं का वर्णन है तथा उनमें से प्रत्येक को सबसे महान कहा गया है। स्पष्टतः सभी देवता समान रूप से महान नहीं हो सकते, तो स्वाभाविक शंका उठी होगी कि सबसे महान, बड़ा देवता कौन है? क्योंकि जो सबसे महत्वपूर्ण होगा वही वास्तविक आत्मा होगा। संहिता काल में जिज्ञासा की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी और विष्णु ही सर्वव्यापक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

इसी क्रम में जैसे-जैसे ऋषियों की अनुभूतियों में गहराई आती गयी वे उस एक सर्व शक्तिमान चेतन को जानने को उत्सुक होने लगे जिससे जड़ रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी

आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है, केनोपनिषद (1.1) में ऋषि कहते हैं :

“ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रौति युक्तः ।

केनेषितां वाचमिमां वदन्तिचक्षुः श्रोतं क ऽ देवो युनक्ति ।।”

उपर्युक्त मंत्र से स्पष्ट है कि ऋषि यह जानना चाहते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की प्रेरक शक्ति कौन है? अर्थात् वे यह जानना चाहते हैं कि हम मनुष्य स्वयं को किस रूप में समझें? केनोपनिषद के आगे के मंत्रों में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि वाणी का ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक; मन-बुद्धि का ज्ञाता, उनको मनन एवं निश्चय करने की शक्ति देने वाला; चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषय को प्रत्यक्ष करने की शक्ति एवं प्रेरणा देने वाला; श्रोत्र इन्द्रिया का ज्ञाता, प्रेरक एवं उसमें सुनने की शक्ति देने वाला तथा प्राण का ज्ञाता, प्रेरक एवं उसमें सुनने की शक्ति प्रदान करने वाला ब्रह्म ही है। दूसरे शब्दों में प्राकृत मन तथा इन्द्रियों से जिन विषयों की उपलब्धि होती है वे सभी प्राकृत ही होते हैं इसलिए उन्हें ब्रह्म-मानव का स्वरूप नहीं समझा जा सकता है। इसीलिए **केनोपनिषद के ऋषि ने सबसे ज्ञाता, शक्ति प्रदाता, स्वामी, प्रेरक, प्रवर्तक, सर्वशक्तिमानित्य अप्राकृत परम तत्त्व-ब्रह्म को मानव स्वरूप के रूप में समझने का संकेत किया है।**

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतीय दृष्टि 'बाहर से अन्दर' जाने की है, वह तथ्यों को समझने हेतु जिन प्रत्ययों का सहारा लेता है वे अमूर्त होते हैं तथा तथ्यों को अर्थ प्रदान करते हैं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसे समझना चाहता है लेकिन जिस शक्ति से कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं उसे ऋषि ने 'ब्रह्म' की संज्ञा से अभिहित किया है लेकिन 'ब्रह्म' की कोई स्पष्ट व्याख्या या विवेचना सम्भव नहीं है क्योंकि जो भी व्याख्या हम करेंगे वह बुद्धि द्वारा ही होगी और बुद्धि उस स्रोत को स्वयं नहीं जान सकती जहाँ से उसे 'जानने की शक्ति' प्राप्त होती है। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि जो यह जानता और जो कहे कि मैं 'उसे' नहीं जानता, जानना कि वह उसे जानता है :

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।”

केनोपनिषद में आगे यज्ञ और देवताओं के संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं से 'आत्मा' भिन्न है और देवताओं की जो भी शक्तियाँ हैं, वे ब्रह्म द्वारा प्रदान की गयी हैं। मनुष्य को समझने हेतु 'ब्रह्म-तत्त्व' का परिचय सबसे पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आत्मा' और ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न तत्त्व माने गये जिनके द्वारा मनुष्य ने स्वयं को समझने का प्रयास किया। अब आत्मा के स्वरूप के साथ देवता के स्वरूप का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

लोगों ने अपने-अपने ज्ञान के विकास की दृष्टि से आत्मा के भिन्न-भिन्न स्वरूप की विवेचना की :

- शतपथ ब्राह्मण मनुष्य के शरीर के मध्य भाग के लिए आत्मा की संज्ञा का प्रयोग करता है।
- त्वक, शोणित, मांस और हड्डी के लिए भी 'आत्मा' का प्रयोग हुआ है।
- मनस्, बुद्धि, अहंकार और चित्त के लिए भी आत्मा का प्रयोग हुआ है।
- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं के लिए भी आत्मा का प्रयोग हुआ है।
- आरण्यक-ग्रन्थों ने आत्मा और प्राण में अभेद माना है।
- आरण्यक में आत्मा को 'विज्ञानमय' एवं 'आनन्दमय' भी माना गया है।
- लोको की सृष्टि आत्मा से ही बतायी गयी है और उसके निरूपाधि एवं उपाधि सहित स्वरूप की भी व्याख्या की गयी है।
- ऐतरेय आरण्यक में तो चिद्-रूप पुरुष या ब्रह्म के साथ इस 'आत्मा' की अभिन्नता को बताया गया है।
- शुद्ध चैतन्य को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ की कोई सत्ता जगत में नहीं है। इस जगत में स्थावर और जंगम जो कुछ भी है वह 'आत्मा' ही है। इसी में सृष्टि होती है और इसी में सभी पदार्थ स्थित है और इसी में अन्त में विलीन हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से हमें यह ज्ञात होता है कि आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण ज्ञान के विकास के साथ-साथ हुआ है, जिसे निम्नलिखित रूप में संक्षेप में व्यक्त कर सकते हैं :

- (अ) आरण्यको मे हमें आत्मा के स्थूलतम तथा परिच्छिन्न स्वरूप के साथ सर्वव्यापक एवं सूक्ष्मतम स्वरूप का परिचय मिलता है।
- (ब) ब्राह्मण तथा आरण्यक गंथों में देहात्म भावना से लेकर आनन्दस्वरूप पर्यन्त ज्ञान की अवस्थाओं का निरूपण प्राप्त होता है।
- (स) एक अव्यक्त अवस्था मे जगत् की सृष्टि होती है। और पुनः उसी अव्यक्त रूप में जगत् लीन हो जाता है।

उपनिषदों के अनुसार मानव स्वरूप :

मनुष्य को समझने हेतु जिस 'आत्म तत्त्व' का विकास संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यकों में हुआ उसकी पूर्ण निष्पत्ति उपनिषदों में दिखाई देती है। आत्मा शब्द का मूल अर्थ 'प्राण वायु' है जिसे बाद में भावना, मन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाने लगा। शंकराचार्य आत्मा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि आत्मा वह है जो सभी में व्याप्त है, जो विषयि है, ज्ञाता है, अनुभवकर्ता है एवं विषय को प्रकाशित करता है और वह अनश्वर है, सदा एक समान रहता है :

“यदापनोति यदादत्ते यच्छाति विषयानिहः

यच्छास्य संततो मावस् तस्माद् आत्मेति कीर्तयते।।”

मानव स्वरूप को तीन प्रमुख उपनिषदों छांदोग्य, माण्डूक्य एवं कठ के माध्यम से अच्छे ढंग से समझा जा सकता है :

(क) छांदोग्य उपनिषद में प्रजापति एवं इन्द्र के बीच वार्तालाप का उल्लेख है जिसमें मानव स्वरूप का उद्घाटन भली-भाँति हुआ है। कथा के अनुसार देवताओं एवं राक्षसों ने क्रमशः इन्द्र एवं विरोचन को प्रजापति ब्रह्मा जी के पास यह जानने को भेजा कि 'हम कौन हैं?' अर्थात् मानव को किस प्रकार समझा जाय। प्रजापति ने उन्हें बत्तीस वर्ष कठोर तपस्या का निर्देश दिया जिससे वे इस ज्ञान के अधिकारी हो सकें, अर्ह हो सकें। बत्तीस वर्ष तपस्या के बाद दोनों प्रजापति के पास जाते हैं और प्रजापति कहते हैं कि :

(अ) “तुम वह हो जो दूसरों की आंखों में, स्थिर जल एवं स्वच्छ दर्पण में दिखायी देता है।”

इन्द्र एवं विरोचन दोनों ने स्वाभाविक रूप से इस उपदेश के अनुसार स्वयं को दूसरों की आंखों में, स्थिर जल एवं स्वच्छ दर्पण में देखा होगा और उन्हें मात्र अपना शरीर दिखाई पड़ा होगा दूसरे शब्दों में **‘मैं = मेरा शरीर’**, ऐसा बोध हुआ होगा। विरोचन इस निष्कर्ष से पूरी तरह संतुष्ट हो गया लेकिन इन्द्र के मन में उपर्युक्त निष्कर्ष के प्रति शंका हुई कि कैसे 'मैं' का तादात्म्य शरीर से किया जा सकता है क्योंकि शरीर के सुन्दर होने पर क्या 'मैं' भी सुन्दर होगा? क्या शरीर के विकृत होने पर 'मैं' भी विकृत होगा? क्या शरीर के नष्ट हो जाने पर 'मैं' भी नष्ट हो जायेगा? शरीर जन्म लेता है, युवा होता है, बूढ़ा होता है? इन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि **“मैं = मेरा शरीर नहीं माना जा सकता है।”** अपनी शंकाओं के साथ वे प्रजापति के पास पुनः जाते हैं और प्रजापति फिर एक वाक्य में उत्तर देते हैं कि—

(ब) 'तुम वह हो जो स्वप्न देखता है और जो स्वप्न में स्वतंत्र रूप से विचरण करता है अर्थात् स्वानकर्ता के रूप में तुम हो।' दूसरे शब्दों में **“मैं = स्वप्नकर्ता।”** इन्द्र इस तादात्म्य से भी संतुष्ट नहीं हुए। यह ठीक है कि इस अवस्था में जो 'मैं' अर्थात् स्वप्नकर्ता है वह शारीरिक कमियों से अप्रभावित रहता है लेकिन फिर भी स्वप्नकर्ता स्वप्न की स्थिति में भयभीत भी होता है, रोता भी है, चिल्लाता भी है। स्वप्न का शारीरिक प्रभाव निश्चित ही होता है। इसलिए **‘इस**

भी 'मैं' के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।" इन्द्र एक बार फिर प्रजापति के पास अपनी शंकाओं के साथ जाते हैं और प्रजापति पुनः एक वाक्य में उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

(स) 'तुम, वह हो जो स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा का आनन्द लेता है।' दूसरे शब्दों में **"मैं = स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा का अनुभवकर्ता"** स्पष्ट है यह स्थिति उपर्युक्त दोनों स्थितियों से बेहतर है। हम जब प्रगाढ़ निद्रा से जगते हैं तो हमें इसीलिए से एक नवीन जीवन्तता का अनुभव होता है, हम स्वयं को तरोताजा अनुभव करते हैं। यह स्थिति एक तरह से अमूर्तता की अवस्था है, जहाँ अनुभव करने, जानने एवं सुख प्राप्त करने के लिए कोई विषय नहीं है। यहाँ विषयि पूरी तरह से 'अचेतन' अवस्था में प्रतीत होता है क्योंकि वह न तो कुछ जानता है, न अनुभव करता है और न ही इच्छा करता है, वह एक तरह 'शून्य', अभाव की स्थिति में है। लेकिन इस अवस्था में भी जगने पर हमें यह बोध होता है कि हमने गहरी नींद लिया है अर्थात् प्रगाढ़निद्रा में भी, जहाँ विषय एवं विषयि का द्वैत विलुप्त हो जाता है, **किसी को यह बोध बना रहता है कि उसने गहरी नींद लिया है।**

इन्द्र अपनी शंकाओं को एक बार फिर प्रजापति के समक्ष रखते हैं और वे अपने योग्य शिष्य पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और वह उपदेश देते हैं जो मानव स्वरूप की सबसे श्रेष्ठ विवेचना के रूप में हमारे समक्ष आती है। प्रजापति कहते हैं कि—

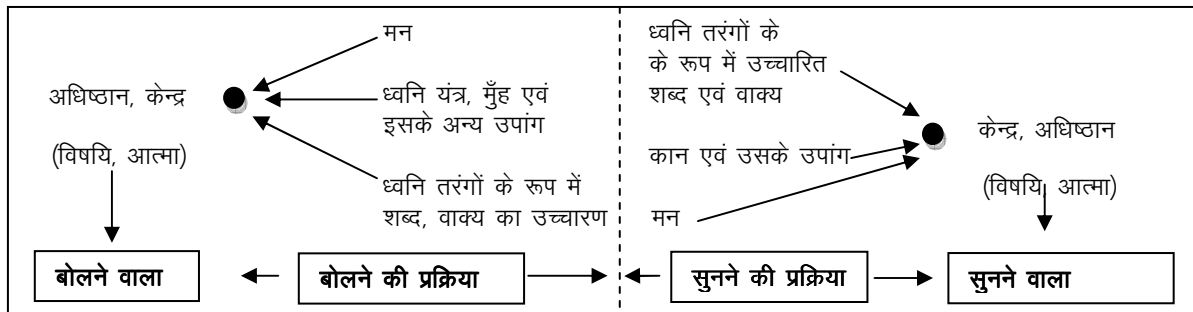
"शरीर आत्मा (मानव स्वरूप) नहीं है यद्यपि उसका अस्तित्व आत्मा के लिए ही है। स्वप्नावस्था के अनुभव भी आत्मा नहीं है, फिर भी वे आत्मा के लिए ही सार्थक हैं। इतना ही नहीं आत्मा को सुषुप्ति के अमूर्त आकारिक सिद्धान्त के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। हमारी आँखें (अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ), शरीर, मानसिक अवस्थाएँ, इन्द्रिय प्रदत्तों एवं चेतना का प्रवाह सभी कुछ आत्मा हेतु साधन एवं विषय हैं। **आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्था का आधार एवं अधिष्ठान है फिर वह इन सभी का अतिक्रमण** करता है। आत्मा सार्वभौम, अन्तर्वर्ती होते हुए भी अतिक्रामी है। सम्पूर्ण चराचर जगत इसी में निहित है, गति करता है एवं जीवन पाता है। यह अनश्वर, स्वयं प्रकाश, स्वयं-सिद्ध एवं संदेहों तथा निषेधों से परे है क्योंकि यही वह सिद्धान्त है जिससे समस्त संदेह, निषेध एवं विचार सम्भव होते हैं। यही वह अन्तिम विषयि है जो कभी विषय नहीं होता और जिसे समस्त ज्ञान की पूर्ववर्ती शर्त के रूप में अनिवार्यतः स्वीकार करना होगा।"

छांदोग्य उपनिषद् का उपर्युक्त वार्तालाप मानव-स्वभाव-आत्मा के समस्त अनिवार्य लक्षणों को अपने में न केवल समाहित करता है बल्कि पाश्चात्य चिंतन में हजारों वर्ष बाद के लाक एवं बर्कले के अनुभववाद, ह्यूम के संदेहवाद, हेरेक्लाइटस, विलियम जेम्स एवं बर्गसा के सतत् प्रवाह, कांट के कापरनिकसीय क्रांति, हीगल के चिंतन तथा ग्रीन, ब्रैडेले एवं मैक्टैगार्ट के विचारों के बीज अपने में रखे हुए हैं। इस तथ्य की विस्तृत चर्चा अगली इकाई में की जाएगी जब हम पाश्चात्य दृष्टि से मानव स्वरूप की विवेचना करेंगे।

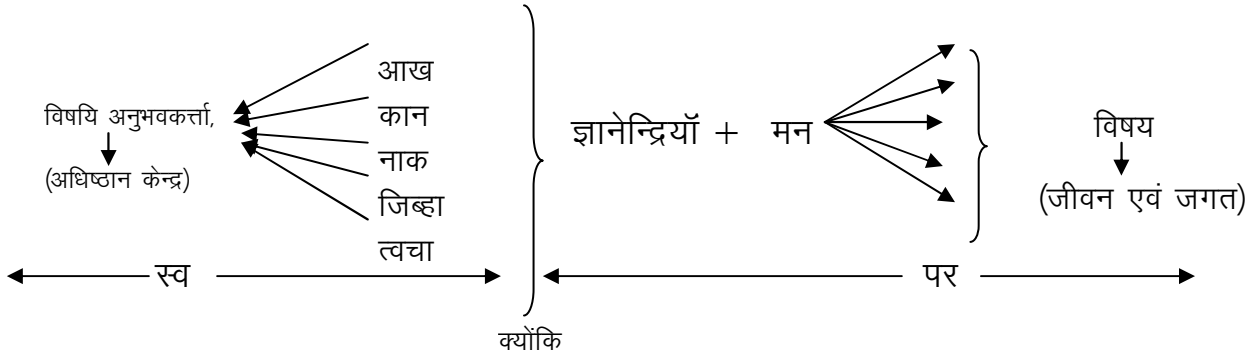
छांदोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त वार्तालाप के निहितार्थ को हम उस समय भलीभांति समझ सकते हैं जब हम **'स्वयं के बोलने'** एवं **'सुनने की संरचना'** का विवेचन करें :

- हमारा बोलना यांत्रिक नहीं होता बल्कि वह सचेत बोलना होता है; जिसमें 'हम' बोलने वाला शारीरिक उपकरणों यथा ध्वनि यंत्र, मुँह आदि के सहारे से शब्दों, वाक्यों का उच्चारण करता है, मन द्वारा वह यह सुनिश्चित करता है कि उसे क्या, किसके समक्ष, किन परिस्थिति में बोलना है। इतना ही नहीं वक्ता बोलते समय न केवल यह जानता रहता है कि वह क्या बोल रहा है बल्कि वह यह भी देखता रहता है कि श्रोता तक वह अपनी बात पहुँचा पा रहा है या नहीं। यदि उसे लगता है कि वह अपनी बात नहीं पहुँचा पा रहा है तो वह दूसरे ढंग एवं तरीके से इस प्रकार अपनी बात रखने का पुनः प्रयास करता है जिससे वह अपनी बात को श्रोता तक सफलतापूर्वक पहुँचा सके। दूसरे शब्दों में वक्ता का पूर्ण नियंत्रण उसके बोलने की प्रक्रिया पर रहता है, **वह सम्पूर्ण प्रक्रिया से कहीं बाहर खड़ा हो उस पर एक तरह नियंत्रण बनाए रखता है।** बोलता तो वक्ता (शरीर एवं उसके अंग एवं उपांगों सहित) ही है लेकिन इसके बाद भी वक्ता (विषयि/आत्मा, अधिष्ठान, केन्द्र) का नियंत्रण बोलने की प्रक्रिया पर बना रहता है।
- ठीक यही प्रक्रिया भिन्न रूप में श्रोता, सुनने वाले के साथ घटित होती है। श्रोता जो भी सुनता है वह यांत्रिक नहीं होता है बल्कि वह सचेत होकर सुनता है। यहाँ भी **सुनने की प्रक्रिया में निश्चित ही शरीर एवं उसके अंगो-उपांगों का सहयोग होता है लेकिन सुनने वाला (विषयि/आत्मा, अधिष्ठान, केन्द्र) इन सबसे परे अवस्थित रहता है।**

उपर्युक्त को निम्नलिखित रेखाचित्र से व्यक्त किया जा सकता है :



हमारी आंखें नहीं देखती, कान नहीं सुनते, नाक गंध का अनुभव नहीं करती, जिह्वा स्वाद नहीं ग्रहण करती तथा त्वचा, स्पर्श ग्रहण नहीं करती बल्कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों के पीछे जो **चेतन विषयि है, केन्द्र है वही इन्द्रियों के व्यापार को जानने वाला-अनुभवकर्ता** हैं। इसे निम्नलिखित रेखाचित्र से आसानी से समझा जा सकता है :



अन्तर्मुखी ← चेतना → वहिर्मुखी

- निश्चित ही मनुष्य के पास भौतिक शरीर है और वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन के द्वारा न केवल वाह्य जगत को जानने हेतु प्रयत्नशील रहता है बल्कि वह स्वयं को भी जानना चाहता है। स्वयं से उसका प्रथम परिचय शरीर का ही होता है। प्रजापति ने इन्द्र एवं विरोचन को अपने प्रथम उपदेश में जब यह कहा कि तुम वह हो जो तुम्हें स्थिर जल, स्वच्छ दर्पण या दूसरों की आँखों में दिखायी देता है तो वे यही संकेत करना चाहते हैं कि शरीर को ही सामान्य रूप से लोग 'स्वयं' के रूप में समझते हैं। 'अन्नमय कोश' जो हमारा सबसे 'वाह्य स्वरूप' है और वाह्य जगत के सम्पर्क में रहता है, को ही सामान्यतः मानव स्वरूप के रूप में भी समझ लेने की भूल लोग करते हैं और विरोचन के समान उत्तर के निष्कर्ष (मैं=मेरा शरीर) से संतुष्ट होकर उसी तक सीमित रहते हुए जीवन जीते रहते हैं और शरीर के सीमित अस्तित्व से ऊपर नहीं उठ पाते। लेकिन इन्द्र इस उत्तर एवं प्रजापति द्वारा दिए गए अन्य उत्तरों उनके निष्कर्षों से संतुष्ट नहीं होते और **वहाँ तक पहुँचे में सफल होते हैं जिसे वस्तुतः मानव स्वरूप का केन्द्र**, स्वयं मानव स्वरूप माना जा सकता है अर्थात् उस 'विषयि' तक जिसके कारण समस्त विषय की 'विषय' के रूप में सत्ता होती है। जिसके कारण विषय न केवल 'विषय' के रूप में अनुभूत होते हैं बल्कि वे 'विषयि' जानने वाले, बोलने वाले एवं सुनने वालों की तरफ भी संकेत देते हैं।

(ख) मानव स्वरूप के बारे में जो संकेत एवं अन्तर्दृष्टि छांदोग्य उपनिषद में दिखाई देती है कुछ वैसा ही भिन्न-रूप में माण्डूक्य उपनिषद में भी मिलता है, जिसे संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

- जाग्रतावस्था में व्यक्ति स्वयं 'मैं' की पहचान वस्तु जगत की अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में करता है, यहाँ इसे वाह्य जगत की चेतना होती है जिसे 'विश्व' की संज्ञा दी गयी है। इस आयाम में व्यक्ति ऐंद्रिक अनुभूतियों का भोक्ता होता है, स्वयं को वह ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है जिसका सर्वाधिक परिचय अपने शरीर-इंद्रियों एवं उनकी अनुभूतियों से होता है। इस स्तर पर व्यक्ति न केवल अधिकाधिक ऐंद्रिक अनुभूतियों की तरफ इस आशा से भागता है कि वह स्वयं को जान सके बल्कि भौतिक सुख-संपदा को भी

इसलिए संचित करने की ओर अग्रसर होता है जिससे वह अन्यो को अपने 'स्व' का बोध करा सके। संस्कृत का श्लोक—'यस्यास्ति वित्तं सःनरः कुलीनः, सः पंडिता सः गुणवानज्ञः' इसी तथ्य की तरफ इशारा करता है। नैतिक दर्शन में सुखवाद, उपयोगितावाद इसी स्तर से सम्बन्धित चिंतन है।

- स्वप्नावस्था में 'व्यक्ति', 'मै' को 'सूक्ष्म वस्तु' की अनुभूति होती है। उसे आंतरिक जगत की चेतना होती है, वह स्वयं काल्पनिक वस्तुओं का सृजन करती है तथा इस अवस्था को 'तेजस' कहा जाता है। यह स्थिति प्रथम स्थिति से श्रेष्ठ है क्योंकि यहाँ व्यक्ति स्वप्न का लेखक, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक सभी कुछ होता है। इस स्थिति में उसे स्वप्न के स्वरूप के अनुसार हर्ष, विषाद, भय, आदि की शारीरिक स्तर पर अनुभूतियाँ भी होती हैं। लेकिन स्वप्नावस्था की समाप्ति के बाद सब कुछ पुनः यथावत् हो जाता है।
- सुषुप्ति अर्थात् स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था में न तो स्थूल और न ही सूक्ष्म, किसी भी प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता है, परिणामस्वरूप कोई विषयि भी नहीं रह जाता है। इस अवस्था विषयि—विषय के द्वंद्व का अतिक्रमण हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को 'प्रज्ञा' की संज्ञा दी जाती है। इस आयाम में पीड़ा का अभाव होता है, न ही कोई इच्छा रहती है और न ही स्वप्न रहते हैं। यह अवस्था सर्वोच्च आनन्द के छाया की है क्योंकि हमें सकारात्मक आनन्द की अनुभूति नहीं होती है। इस स्थिति में यह सही है कि दुःख नहीं होता, पीड़ा नहीं होती तथा विषयि एवं विषय का द्वैत भी नहीं रहता लेकिन इस अवस्था से बाहर आने पर व्यक्ति को एक तरह की ताजगी, नयेपन की अनुभूति भले ही होती है, लेकिन व्यक्ति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। यह अवस्था इन्द्र एवं प्रजापति के संवाद की तीसरी स्थिति के समान है। इन्द्र की इस अवस्था—सुषुप्ति के प्रति संदेह भी इसीलिए हुआ क्योंकि इस स्थिति में व्यक्ति एक अमूर्त, शून्य की अवस्था में रहता है जिसकी तुलना 'मृत्यु' से भी हो सकती है।

अनुभूतिगत समस्त निषेधों के बाद भी इस अवस्था के बाहर आने पर इस बात की अनुभूति व्यक्ति को रहती है कि उसे गहरी, स्फूर्तिदायक निद्रा आयी **अर्थात् 'कोई तो था जो इस स्थिति से परे था'**, भले ही उसे जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्था के समान कोई अनुभूति न हो रही हो।

- उपर्युक्त तृतीय स्थिति ही इस बात का संकेत करती है कि कोई ऐसी भी स्थिति होनी चाहिए जो इससे परे सकारात्मक एवं भावात्मक हो। यही व्यक्ति का शुद्ध—साक्षी स्वरूप है जिसे 'तुरीय' की संज्ञा में अभिहित किया गया है, जहाँ सुषुप्ति के समान विषयि एवं विषय का द्वैत नहीं है लेकिन इस स्थिति में पीड़ा के निषेधात्मक मात्र अभाव के विपरीत 'सकारात्मक आनन्द' की स्थिति है जिसकी अनुभूति व्यक्ति में गुणात्मक परिवर्तन कर देती है। इस अनुभूति के बाद 'व्यक्ति' वह नहीं रह जाता, जो वह होता है अपितु उसे अपने वास्तविक स्वरूप को बोध हो जाता है। व्यक्ति अपने को—शरीर, मन, दूसरों के चश्में से नहीं देखता बल्कि **उस रूप में देखता है जो वह वस्तुतः होता है**—उस रूप में देखता है जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्था का केन्द्र, अधिष्ठान,

ज्ञाता, साक्षी है। वह अपने को सागर रूप में जानने में समर्थ एवं सफल होता है। **वह जानता है कि सागर ही लहरों के रूप में लहराता है। लहर, सागर ही है और इस अनुभूति से उसकी चेतना, व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है।**

(ग) 'रथ' की उपमा की सहायता से कठोपनिषद मानव स्वरूप को उद्घाटित करता है। इस दृष्टान्त के अनुसार वस्तुएँ मार्ग के समान हैं, शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े के समान हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी हैं, अहम् भोक्ता है, लेकिन वास्तव में **जो 'व्यक्ति' उस रथ पर आरूढ़ है वही इस प्रक्रिया का स्वामी है**, उसी के हेतु मार्ग, रथ, घोड़े, लगाम, सारथी आदि हैं। इसी दृष्टान्त के सहारे मानव के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिए—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत 'मनुष्य' के संदर्भ में ही सार्थक है, उसी के हेतु है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत के आधार पर मनुष्य के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है बल्कि मनुष्य के नाते ही शरीर, शरीर है, इन्द्रियाँ, इन्द्रियाँ हैं। मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत का अस्तित्व प्राप्त करता है।

कठोपनिषद के ही द्वितीय अध्याय के प्रथम बल्ली के प्रारम्भिक कतिपय मंत्रों में उसी तथ्य का वर्णन मिलता है जिसका उल्लेख हमने पूर्व में मानव स्वभाव की विवेचना में किया है। हमने यह बताया था कि मनुष्य आत्म चेतन सत्ता है जहाँ उसकी चेतना न केवल बहिर्गामी है (अन्य सत्ताओं के समान) बल्कि वह अन्तर्मुखी भी है। प्रथम मंत्र के अनुसार—'इन्द्रियों का मुख बाहर की तरफ होता है अर्थात् वह बाहर स्थित वस्तुओं को ही देखती है लेकिन मनुष्य 'आत्मचेतन' सत्ता होने के कारण अपनी चेतना को अन्दर की तरफ भी मोड़ सकता है और उस अधिष्ठान, केन्द्र को जान सकता है जिसके कारण विषय, विषय होते हैं तथा विषयि, विषयि होता है। चौथे मंत्र में इसी का स्पष्टीकरण देते हुए ऋषि कहते हैं मनुष्य 'जिससे' (आत्म-तत्त्व, चेतन तत्त्व, अधिष्ठान) **स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था के दृश्यों को देखता है यदि वह उसे 'देख' ले, 'जान' ले** अर्थात् अपने को 'बोलने वाले' एवं 'सुनने वाले' के रूप में जान ले **तो उसे शोक, दुःख नहीं हो सकता है।**

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चाभौ येनानुपश्यति।

महान्तं विभुमात्मनं मत्वा धीरो न शोसति।।

सारांश—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि :

- यद्यपि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अवस्थाएँ भी मानव स्वरूप के बारे में महत्वपूर्ण संकेत देती हैं लेकिन यह सब परिधिगत सूचनाएँ ही दे सकती हैं। यह तीनों अवस्थाएँ मनुष्य से सम्बन्धित एवं सम्बोधित अवस्थाएँ हैं लेकिन अंतिम तुरीय अवस्था वह मूल, अधिष्ठान, केन्द्र है जिसके नाते शेष तीनों अवस्थाएँ सम्भव होती हैं। जब तक हमारा परिचय इस अवस्था से नहीं होता तब तक वास्तविक मनुष्य हमारे समक्ष उद्घाटित नहीं होता। सामान्यतः जिस मनुष्य को हम आप जानते हैं वह मनुष्य शरीर धारी एक प्राणी मात्र होता है। भारतीय दर्शन जिसका सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्राथमिक परिचय हमें वेदों एवं उपनिषदों में मिलता है इस बात का आग्रही है कि हमें 'बाहर से अन्दर'

की यात्रा करनी होगी, हमें स्थूल से सूक्ष्म-सूक्ष्मतम तक जाना होगा तभी सत्य से हमारा साक्षात्कार होगा चाहे वह वस्तुनिष्ठ सत्य हो या आत्मनिष्ठ। तथ्यों (स्थूल) को अर्थवान विचार बनाते हैं; अनुभव, अनुभवातीत के संदर्भ में ही सार्थक है; अस्तित्व की सार्थकता सार से होती है। इसीलिए भारतीय दृष्टि इनमें किसी भी तरह का द्वंद्व, विरोध नहीं देखती है क्योंकि जहाँ विचार, तथ्यों को अर्थ प्रदान करते हैं वही तथ्य, विचार हेतु सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

- **मानव स्वरूप को समझने हेतु जहाँ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाएँ सामग्री उपलब्ध कराती है वही तुरीय अवस्था इन्हें अर्थ प्रदान करती है।** भारतीय दृष्टि में ज्ञान न केवल एक क्षैतिज प्रक्रिया है जो हमें अधिकाधिक तथ्यों से परिचित कराती है बल्कि वह ऊर्ध्वाधर प्रक्रिया भी है जिससे आत्मरूपान्तरण, आत्म परिचय, स्वानुभूति में सहायता प्राप्त होती है। किसी भी परिधि को **उसका अर्थ उसके केन्द्र से ही प्राप्त होता है इसी प्रकार तथ्यों को अर्थ विचार ही देते हैं। तुरीय अवस्था ही जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को अर्थ दे सकती है। यही उसका-मानव का स्वभाव, स्वरूप होता है।** सामान्य भौतिक पदार्थों जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भी इसी आधार पर स्वधर्म चुक्त माने गये हैं :

‘रूप रस गन्ध स्पर्शवती पृथिवी।

रूपरस स्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धा।

तेजो रूप स्पर्शवत्।।” (कणादसूत्र 2.1.1.2 एवं 3)

- भारतीय दृष्टि में अन्दर और बाहर, अंशी एवं अंश अभिन्न है क्योंकि अंशी से अंश का स्वधर्म भिन्न नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवत 11,23,24 के अनुसार “मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।”

“मनसा वचसा दृष्टया गृह्यतेऽन्यैरयीन्द्रियैः।

अहमेव न मन्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमभ्वसा।।

- उपनिषदों की दृष्टि में जो अविद्या (वाह्य ज्ञान, विज्ञान) और विद्या (आन्तरिक ज्ञान) दोनों को जानता है वह अविद्या में मृत्यु को प्राप्त करके विद्या से अमृत को जान लेता है।

“विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।” (ईशवास्योपनिषद-11)

निम्नलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपर्युक्त विश्लेषण किस तरह से हमारे भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करने में सक्षम है, और इसने किस रूप में भारतीय ‘मूल्य’ परम्परा के संवर्धन एवं निर्माण में सहायता दी है:

- यह सही है कि भारतीय दृष्टि विद्या की पक्षपाती है क्योंकि वह अनुभवकर्ता-केन्द्र का विवेचन करती है लेकिन अविद्या की वह विरोधी नहीं है। स्पष्ट है कि केन्द्र या अनुभवकर्ता जिसे वह अनुभव करना चाहती है, की अनुभूति परिधि या इन्द्रियानुभव के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव हैं। आधुनिक ज्ञान के समस्त अनुशासन जिसके द्वारा हम जीवन

एवं जगत को न केवल बेहतर ढंग से समझ पाने में सफल हुए बल्कि बेहतर जीवन एवं जगत का निर्माण करने में भी सफल हुए हैं, को अविद्या की श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसके बारे में ऋषि कहते हैं कि इससे मृत्यु को पार किया जा सकता है। अविद्या, विज्ञान हमें मृत्यु के पार ले जा सकता है लेकिन इससे अमृत नहीं मिल सकता। अविद्या हमें जीने में सहायता दे सकती है लेकिन इससे जीवन का सार न मिलेगा। मात्र जीना एक तरह से वानस्पतिक जीवन (Vegetative Life) होता है—भोजन, मकान, औषधि, वस्त्र, समस्त, ऐंद्रिक सुख मिल जाएँगे। जिन्दगी ठीक से गुजर जाएगी यदि सुविधाएँ हैं लेकिन अमृत न मिलेगा। हो सकता है कि भविष्य का विज्ञान इतना विकसित हो जाए कि मृत्यु असम्भव हो जाए, मनुष्य मरे ही नहीं, तो भी क्या हो जाएगा? अमृत तो अनुभव में नहीं आया। अविद्या क्षैतिज ज्ञान है इसमें विस्तार तो है, गहराई, रूपान्तरण की कोई सम्भावना नहीं है। अमृत को जाने बगैरह चाहे हम सत्तर वर्ष जीए या सात सौ वर्ष इससे कोई अन्तर न आएगा।

- आवश्यकता इस बात की है कि अविद्या या क्षैतिज ज्ञान के साथ हमें विद्या—उर्ध्वाधर ज्ञान का भी अनुभव होना चाहिए। हमें उसका अनुभव भी इसके साथ करना है **जो जीने के पहले था, जन्म के भी पहले था और मरने के बाद भी बच जाता है। इसे विद्या द्वारा ही जाना जा सकता है। जो जन्म एवं मृत्यु के पार है उसकी अनुभूति ही अमृत की उपलब्धि है। अविद्या मानवीय होती है विद्या के संस्पर्श से और विद्या सम्पन्न होती है अविद्या से जुड़कर।**
- यह भारतीय अन्तर्दृष्टि पता नहीं किन ऐतिहासिक क्षणों में खो गयी कि हमने अविद्या एवं विद्या दोनों को न केवल विपरीत बल्कि विरोधी भी मान लिया। फिलासफी एवं दर्शन, बाहर एवं अन्दर दोनों एक दूसरे के विपरीत खड़े हो गए। इस विखण्डन का परिणाम यह हुआ कि विज्ञान एवं धर्म दोनों एक दूसरे के विरोधी हो गए। अंतर्यात्रा एवं वहिर्यात्रा दो यात्राएँ हो गयीं और यही से मनुष्य के दुर्भाग्य का प्रारम्भ हुआ क्योंकि जो संयुक्त थे उन्हें बलपूर्वक उन्हें वियुक्त कर दिया गया। जिस प्रकार यदि शरीर एवं आत्मा को पृथक कर दिया जाय तो परिणाम घातक होंगे, ठीक उसी प्रकार अविद्या एवं विद्या को अलग करने के दुष्परिणाम हुए। हमारा शरीर, आत्मा का प्रकट रूप है और आत्मा शरीर की अप्रकट शक्ति, लेकिन दोनों आत्यांतिक रूप से संयुक्त हैं। भोजन से शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी शक्ति प्राप्त होती है। ध्यान घटता तो आत्मा में है लेकिन उसका तेज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। ठीक यही बात सृष्टि एवं स्रष्टा के सम्बन्ध में लागू होती है। सृष्टि, स्रष्टा का व्यक्त रूप है तथा स्रष्टा, सृष्टि की शक्ति या मूल है।
- उपर्युक्त अलगाव मानव सभ्यता हेतु घातक सिद्ध हुए क्योंकि जो बाहर की यात्रा पर गया उसे हमने संसारी माना तथा जो अंदर की यात्रा पर गया उसे आध्यात्मिक माना। एकांगिकता, अधूरे सत्य को हमने सत्य मान लिया फलस्वरूप हमारा संसार एवं अध्यात्म दोनों ही जीवन से रहित हो गए। अधूरा सत्य असत्य से भी खतरनाक होता है। जो भी बहिर्यात्रा की कीमत पर अन्तर्यात्रा करता है उसकी वह यात्रा निष्प्राण, निर्वीर्य एवं अधूरी हो जाती है। यही कारण है कि ऐसे यात्रियों को शांति तो मिलती है

लेकिन गहन, उदासी के साथ। सन्नाटा तो आता है लेकिन गुनगुनाता, नाचता हुआ नहीं। मरघट की शांति तो उपलब्ध हो जाती है लेकिन उपवन की शांति, जहाँ फूल खिलते हैं, सुगंध व्याप्त रहती है, पक्षी गीत गाते हैं, से वंचित रह जाते हैं। हमने विशेषकर भारत में ऐसे ही भगोड़ों, पलायनवादियों को परमहंस एवं साधु का दर्जा प्रदान किया। इसी तथाकथित 'धर्म' ने कुछ लोगों को आंतरिक विक्षिप्तता में ढकेल दिया तो कुछ लोगों को बाहर-बाहर अटका दिया जहाँ उन्हें जीवन निरर्थक, सत्रांस से युक्त, अर्थहीन, न जीने योग्य लगने लगता है और वे वाह्य विक्षिप्तता के शिकार हो जाते हैं। हमें यदि मानव जाति का कल्याण करना है—वास्तविक धर्म की स्थापना करनी है तो इस जाल, कुचक्र को तोड़ना होगा और यह घोषणा करनी पड़ेगी कि बाहर और भीतर संयुक्त है जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन दोनों से युक्त होकर ही पूर्ण सत्य निर्मित होता है। उपनिषद् कहते हैं कि 'समस्त जड़ जगत ईश्वर द्वारा आच्छादित है इसलिए हमें त्याग पूर्वक भोग करना चाहिए। इस संदेश को न समझ पाने के कारण ही जो वस्तुतः संयुक्त हैं उसे विभाजित कर दिया गया, जिससे उपद्रव ही पैदा हुआ। एक तरफ झूठे, पाखण्डी, साधु पैदा हुए तो दूसरी तरफ दीन-हीन भोगी पैदा हो गये। भोगियों, संसारी लोगों ने अपने को भोग, संसार तक ही सीमित कर लिया और मान लिया कि हमारा कार्य साधु-सन्यासियों की सेवा तक सीमित है, इसी में वे अपने पुण्य को देखने लगे। इस प्रकार उन्हें अंतर्यात्रा पर न जाने का बहाना मिल जाता है। इसके विपरीत जो केवल अंतर्यात्रा पर गये वह पूरी यात्रा नपुंसक सिद्ध हुई क्योंकि उन्हें इस हेतु उन पर निर्भर रहना पड़ा जो वहिर्यात्रा पर गए हैं।

जो यात्रा अन्दर एवं बाहर दोनों को संयुक्त करती है उसे ही वास्तविक यात्रा, सन्यास कहना चाहिए, जहाँ 'शांति' उपवन की शांति होती है—नाचती, गाती, थिरकती। रैदास का कथन—

“अब कैसे छूटै नामरट लागी।

प्रभुजी तुम चंदन हम पानी। जाकी अंग-अंग बास समानी।।

प्रभुजी तु धनबल हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा।।”

अर्थात् जिस प्रकार आषाढ में बादलों को देखकर मोर नाच उठते हैं ऐसे ही प्रभु तुम घने बादलों की तरह छा गए हों और हम तो मोर है नाच उठे हैं। भारतीय दृष्टि दोनों को संयुक्त मानती है और 'यतोऽम्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः'। **धर्म दोनों को संयुक्त करती है लेकिन यह धर्म मात्र पूजा पद्धति न होकर जीवन एवं जगत के प्रति गहरी दृष्टि है।**

चिंतन के प्रारम्भिक चरण में भारतीय मनीषियों ने दर्शन को एक व्यावहारिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार कर लिया था। जीवन को बेहतर एवं सार्थक ढंग से तभी जिया जा सकता है जब हम एक ऐसी दार्शनिक चेतना को स्वीकार करते हैं जो अंदर और बाहर को संयुक्त मानती है। इसी कारण परम्परा से भारतीय चिंतक दार्शनिक अनुचितन के प्रारम्भ में ही यह स्थापित कर देते हैं कि कैसे उनका चिंतन पुरुषार्थ में सहायक है। प्रायः सभी चिंतकों में यह

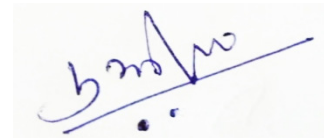
सहमति दिखाई देती है कि ब्रह्मांड में एक अन्तर्निहित एकात्मक व्यवस्था है जिसे वे 'ऋत' की संज्ञा प्रदान करते हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि न केवल भारतीय चिंतक बल्कि पाश्चात्य चिंतन की भी विभिन्न धाराएँ इसी ऋत की विवेचना एवं उसके तत्वमीमांसीय आधारों को स्पष्ट करती हैं। भारत में 'धर्म' की अवधारणा का मूल यही है कि इस पृथ्वी पर कैसे और किस प्रकार बेहतर सार्थक जीवन जिया जाय जो हमारे अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों में सहायक सिद्ध हो। **धर्म हमारे जीवन को इस योग्य बनाता है जिससे इस भौतिक शरीर में ही परमात्मा अवतरित हो सके।**

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वहिर्यात्रा-विज्ञान एवं तकनीकी भौतिक दृष्टि से बेहतर विश्व एवं समाज बनाने में निश्चित रूप से महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं और वे दे भी रहे हैं लेकिन बिना बेहतर मनुष्य के, बिना उस मनुष्य के जो अपने स्वरूप को जानता है; हमारा विश्व एवं समाज एक ऐसे भवन के रूप में होगा और हो गया है जो देखने में बहुत भव्य, सुन्दर एवं समस्त सुख-सुविधाओं से युक्त है लेकिन वहाँ कोई रहने वाला नहीं है। जिसे स्वयं की ही पहचान नहीं है वह कैसा विश्व एवं समाज निर्मित करेगा इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। सर्वत्र एक ही सत् अखण्ड रूप से व्याप्त है जब तक हमें यह अनुभव नहीं होता तब तक हम सत्, चित् आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकेंगे हम जब स्वयं को जान लेते हैं, भगवन्ता को अनुभव कर लेते हैं-परमात्मा हो जाते हैं उसी क्षण हमारे लिए सम्पूर्ण चराचर जगत परमात्मा स्वरूप हो जाता है लेकिन यह हमारे जानने (अविद्या) का विषय न होकर बोध एवं अनुभव (विद्या) का विषय है इसीलिए ऋषि कहते हैं;

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।" (केनोपनिषद 2,3)

समस्त अविद्या अभ्युदय का हेतु है जबकि विद्या निःश्रेयस का आधार है। अविद्या इसलिए है जिससे विद्या प्राप्त हो सके। जिस प्रकार फूल की सार्थकता फल होने में है लेकिन बिडम्बना है कि जैसे फल आ जाता है फूल नष्ट हो जाता है। वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता बल्कि अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी तरह व्यक्ति को जब स्वानुभूति हो जाती है, **वह स्वयं को जान लेता है तो वह उस रूप में 'नष्ट' हो जाता है जिस रूप में लोग उसे जानते रहते हैं लेकिन इसी के साथ उसका अपने अमृत स्वरूप से प्रथम परिचय प्राप्त हो जाता है जिससे उसका स्वयं के साथ एवं अन्यो के साथ समस्त व्यवहार गुणात्मक रूप से परिवर्तित हो जाता है। इसी के फलस्वरूप हम वर्तमान कोरोना संकट का सफलतापूर्वक सामना करने की क्षमता विकसित कर सकते हैं।**



सुशील कुमार तिवारी

(विशेष कार्याधिकारी)

अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,

सिद्धार्थनगर।